

□□□ □□□□□□

जनसत्ता 8 मई, 2014 : अंगरेज भारत में कई कुटलि प्रशासनिक व्यवस्थाएं दे गई हैं। उनमें अदालती न्यायदान पद्धतों का मथिक भी शामिल है।

हत्या शारीरिक क्षतियों की सूची में सबसे जघन्य और घृणित कृत्य है। सांघातिक चोट, बलात्कार, अपहरण और सायास धमकियां उसी अपराध कुटुंब की हिसा हैं। 'कनून का राज' वाला जुमला दुनिया के लोकतंत्रों में जनता की जुबान पर चस्पानं कर दिया गया है। उसके नैतिक अर्थ से कनून का कोई लेना-देना नहीं होता। न्याय है कं होता हुआ दीख रहा है, लेकिन होता नहीं है। गरीब, अशिक्षित और दुर्घटनावश बने अपराधियों के कनून और न्यायालय डींगें मारते भी सजाएं दे सकते हैं। कुछ अपवादों के छोड़ें कर सजायापत्ता और उसके सामाजिक स्तर में उलट अनुपात का संबंध होता है। अमीर, असरदार, नौकरशाह, राजनेता, उद्योगपत, सुपारी लेने वाले सीरयिल क्लिर, पुलिस बल वगैरह अभियुक्त होने पर भी समाज में उनमुक्त होते हैं। मामलों में उनका बरी हो जाना तो पहले से तय लगता है।

सांप्रदायिक और अन्य दंगे लोकतंत्र के उजले चेहरे पर चेचक के बदनुमा दाग हैं। स्वाधीन देश में हजारों की संख्या में सांप्रदायिक दंगे हुए। और अब भी हो रहे हैं। अंगरेजों ने ताजीरात-हदि, दंड प्रक्रिया संहिता और साक्ष्य अधिनियम का त्रिभुज लॉर्ड्स की इबारत में इंग्लैंड के हाउस ऑफ कॉमन्स में बैठ कर खींचा था। फैजदारी अदालती व्यवस्था इसी त्रिभुज में फंसी न्याय देने की केशशि, जुगत या गलतफहमी में व्यस्त है। दल्लि में सखिों का कालेआम (1984), मुंबई (1992), कंधमाल (2008) और गुजरात (2002) सहित मुजफ्फरनगर (2014) के सांप्रदायिक दंगों में वास्तविक अभियुक्तों के कभी सजा नहीं मल्लिगी। फिर भी राजनेता, जनता और मीडिया की यह खुशफहमी लगातार उम्मीदजदा है कं न्याय-व्यवस्था में गहरा वशिवास रखना चाहें। अदालतें 'देर आयद, दुरुस्त आयद' के मुहावरे के अनुरूप कभी न कभी न्याय तो जरूर करेंगी! यह ठीक है कं गुजरात दंगों के लेकर पूर्व मंत्री माया केडनानी, बाबू बजरंगी और बलिकीस बानो बालात्कार कांड के अपराधियों के सजाएं मल्लि भी हैं। लेकिन ये सजाएं अपवाद हैं, जो नयिम के ही सद्धि करती हैं।

सांप्रदायिक दंगे अगर दो शतु-समूह करें, कं कदूसरे के वरिद्ध दंड प्रक्रिया संहिता के तहत प्रथम सूचना रपिर्ट दर्ज करें, तब जांच प्रक्रिया का न्याय के अंतमि प।व तक पहुंचने की मृगतृष्णा का पाथेय झलमल्लिने लगता है। मगर जब राज्य ही सांप्रदायिक हिसा का करकया संरक्षक हो तो पुलिस थानों में रपिर्ट तक दर्ज नहीं हो पाती। जब पुलिस ही अपने आकाओं का हुक्म बजाते नागरिकों के जानवरों की तरह कटने लगे, स्त्रियों का शीलहरण करे, गरीबों तक की संपत्तियां छीन ले, माहौल में अश्लीलता, असभ्यता और बदतमीजी का तांडव भर दे, तब कनूनी प्रक्रिया की रस्म अदायगी तक भीगी बल्लि की तरह दुम दबाने लगती है।

गुजरात, दल्लि, ओडशा, मुंबई, मेरठ, मुजफ्फरनगर सहित पूरे देश में सांप्रदायिक दंगों से जुड़े मामलों में कनूनी प्रक्रिया लाचार-सी दखिती रही है। कुछ बुद्धजिवियों, मानवाधिकार कर्यकर्ताओं, प्रबुद्ध वकीलों और मीडिया के ईमानदार पत्रकारों के नैतिक दबाव और हठवादी जागरूकता के चलते इने-गनि मुक्दमों में वास्तविक न्याय मल्लिने की धूमल्लि संभावनाओं का उजला चेहरा दखिता है। लेकिन राज्य प्रायोजित हिसा के अधिकतर मुक्दमों में वही ढाककेतीन पात नजर आते हैं।

गुजरात दंगों के लेकर पीठि जकिया जाफ्री की कवविधि याचकि के अमदाबाद के मेट्रोपोलिटन न्यायालय ने यह कहते हुए रद्द कर दिया कि दंगों के जांच के लिए गठित विशेष जांच दल (सआइटी) ने ठीक कहा था कि उसे अपराध सिद्ध करने योग्य साक्ष्य मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी और अन्य के वरिद्ध नहीं मिला। इसलिये मोदी और अन्य संदेहियों के अपराध से पृथक कर दिया गया। सबसे नचिली अदालत द्वारा लाचार सआइटी आवेदन पर इस आदेश के आत्मप्रचारित राजनीतिक गुणनफ्त नकिले गए। कहा गया कि न्याय की जीत हुई है।

सआइटी प्रमुख और सीबीआई के पूर्व नदिशक आरके राघवन का आत्मवश्वास बोला कि जांच रिपोर्ट के वैधानिक मान्यता मलि गई है। प्रचारित हुआ कि अपनी आंखों पर पट्टी बांधे न्याय-व्यवस्था ने आखिर खुली आंखों से वास्तविक न्याय कर दिया है। घृणित अपराधों का सच लाशों के मलबे के नीचे टीसता रहेगा। प्रचार का इतना तेज शोर है कि सत्य की कराह के सुनने का व्यवस्था के पास वक्त, नीयत और समझ तक नहीं है।

राज्य प्रायोजित हिसा की रपट पुलिस थानों में पीठि व्यक्ति दर्ज कराने की हमिमत नहीं करता। जाता भी है तो उसे जान-माल की धमकी मलित है, जो क्थिान्वति भी की जा सकती है। स्वयंसेवी संस्थाओं, समाज, सुप्रीम कोर्ट और मीडिया वगैरह के साहसकि दबाव के चलते प्राथमकि दर्ज भी कर ली गई, तब भी जांच तो थाने के अधिकारियों के ही करनी होती है। वही तो अभियुक्तों का आचरण करते पीठि तों द्वारा देखे गए होते हैं। दंड प्रक्या संहति की धारा 161 के तहत ली गई गवाहों के बयान न्यायालय में सरेआम झुठला जा सकते हैं। उन पर कोई मुकद्दमा भी नहीं चल सकता।

अंगरेजों ने यह जुमला जनता के झांसा देकर रचा था कि पुलिस किसी भी शरीफ व्यक्ति के झूठे मुकद्दमे में फंसा कर नकली गवाहियां टीप सकती है। ऐसे गवाह अदालत में निर्भय होकर बयान के खंडित कर सच बोल सकते हैं। लेकिन हो यह रहा है कि लोकतंत्र में रसूखदार उद्योगपति, फरीती वसूलने वाले, राजनेता, नौकरशाह और खुद पुलिस अधिकारी भी अभियुक्त होते गए हैं। उनके खिलाफ सच्चे या झूठे दर्ज किए गए बयान न्यायालयीन क्थन के स्तर पर सच की देह से आत्मा निकल लेते हैं। अभियुक्त मूर्छे पेंठते अदालत से नकिलते हैं। शकियतकर्ता शर्मसार होकर चूहों की तरह घर के बलि में कुंठित होकर दुबक जाते हैं। गवाह दलाली का कमीशन खाते सथासत चलाते हैं। मीडिया का बहुलांश अभियुक्तों का गुणगान करने के रोमांच से लबरेज होता रहता है।

वचिरण न्यायालय अभियुक्त का स्वर्ग और पीठि का नरक बना जा रहे है। घटना के दस-बारह वर्ष बाद महंगी फीस लेकर वाक्फला में टर्राने वाले वकील नरिक्कर, अल्पशाक्षि और औसत बुद्धि के कनूनी जुमलों से भी बेखबर नागरिकों से आत्ममुग्ध शैली में साक्ष्य अधिनियम की सर्वोच्च उपपत्तियों का ठीका जरिह में उन पर फेंके ते है। वे लगातार अभियुक्त की आंखों में पारस्परिक प्रशंसा और मोटी फीस के अहसान के कृत्तज्ज भाव से सराबोर होकर देखते रहते है। न्यायालय थानेदार द्वारा संदेहजनक परस्थितियों में लिखी गई इबारतों में कक कशब्द तक में वसिंगति हुई ते है। फरि दंड दे सकने के न्यायपथ के आसपास उग आई चोर पगडंडियों में भटक जाने के अभिशप्त होते है।

वचिरण न्यायालयों की सांख्यिकी पर शोध क्थि जा तो लगभग नब्बे प्रतिशत मुकद्दमों में या तो चश्मदीद गवाह के खरीदा जाकर उसे अभियोजन द्वारा पक्खवरीधी घोषित क्थि जाता है या अभियुक्त या बचाव पक्ख के अधिवक्ता के गैरहाजरि रखा जाकर वचिरण के दशकें की यात्रा करनी होती है या गैरजमानती और समझौते के नाकबलि मामलों में भी भरी अदालत में समझौते की तजवीज की जाती है, जिससे समझौतानामा की संभावति प्राप्य राशिके लेकर बंदरबांट की जा सके। कुछ प्रकरणों में तो न्यायाधीश के ही खरीद लेने की संभावना साकर कर ली जाती है।

अभियुक्तों की इन परस्थितियों में की गई उनमुक्ति के न्यायालयीन उद्घोष के दागी राजनेताओं के लोकचरतिर का प्रमाणपत्र बना कर उन्हें मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री पद तक का नैतिक दावेदार अनुकूल समूहों द्वारा बना दिया जाता है। राजनेता बजा फरमाते है कि 'कनून अंधा होता है' 'कनून के अनुसार न्याय होता है' 'कनून का काम है कि वह अपनी राह चले' 'अमुकमंत्री ने जनदृष्टि या नैतिकदृष्टि के अनुसार भले अपराध क्थि होगा, लेकिन कनून की

दृष्टि ही सर्वोपरि है।

कानून का नैतिकता, नागरिकसमझ और 'प्रत्यक्ष के प्रमाण की क्या आवश्यकता' जैसे शब्दार्थों से कोई सरोकार नहीं होता। गुजरात, दिल्ली, मुंबई, कंधमाल और मुजफ्फरनगर वगैरह में हजारों निर्दोष नागरिकों के साथ अन्याय हुआ। नकबपोशों का गरीब अगर किसी मुख्यमंत्री के बंगले पर डकैती करे, रात के अंधेरे में किसी उद्योगपति की मलिन में कोई भी आग लगा दे, अमीर घराने की किसी युवती के मुंह पर कपड़ा बांधे लोग सरेआम अगवा कर लें, तो इन प्रकरणों में मुलजमिों के खिलाफ नामजद रिपोर्ट कैसे दर्ज की जा सकती है?

ऐसे ही समांतर सवाल फिर भी भारतीय अदालतें अस्मत्, अस्मति और संपत्ति लुटा चुकी गरीब जनता से क्यों पूछती रहती हैं? बलात्कारी, डकैत, हत्यारे तस्वीर लगा पहचान पत्र पीछे के घर छोड़ कर नहीं जाते। पुलिसिया अन्वेषण या तो उन्नीसवीं सदी की लचर अवैज्ञानिकिहालत में हो रहा है या वह जानबूझ कर आधुनिकप्रवधियों के उपलब्ध होते हुए भी हस्त्रेखाओं, आवाजों, कद्द-कठी, वैमनस्य और बदला लेने के विस्तारित आयामों में जाकर मुलजमि के नहीं पकड़ रहा है।

दंड व्यवस्था में अपील और अपीलोत्तर न्यायालयों में चर्चगुप्त की डायरी नहीं लिखी जाती। वे क्लिष्ट न्यायपालिका की डायरी के बांच कर न अर्थ ढूंढने का जतन जरूर कर सकते हैं। गुजरात ही तो वह प्रदेश है, जहां के कमजिस्ट्रेट ने आपराधिकप्रकरण में राष्ट्रपति और सर्वोच्च न्यायाधीश के अदालत में हाजरि होने के लिए समन जारी कर दिया था। उसे बाद में बर्खास्त कर दिया गया। हतिबद्ध पुलिस अन्वेषण, अभियुक्तोंनमुख कानून और 'बासी कर्मी में उबाल' की तरह की न्याय-प्रणाली में फंस कर सांप्रदायिकहिंसा के हजारों-लाखों शक्तिर लोगों की आवाजों का चीत्कर माहौल में गूंज तो रहा है।

अभियुक्तों के ससम्मान बरी करने के आदेशों के कानूनी, लेकिन अनैतिकि लान के न्याय की सफिनी बनाया जा रहा है। सबूतों के अभाव में नजि मुलजमि छोड़ा जा सकते हैं। लेकिन सरकारी बदइंतजामी, नाकामी, नषिक्रयिता और ढठिआई के नैतिकदृष्टि से मुलजमि क्यों नहीं कहा जाना चाहिए। अंगरेजों की गुलामी से मुक्त होकर भारतीय इतिहास की सबसे पहली और इक्लौती सामूहिकसमझ की कृताब यानी संविधान के लिखने का श्रेय देश के प्रत्येक नागरिक यानी 'हम भारत के लोगों' के है। इसकी वाचाल, उदंड, अपराधउददीपक और बेखबर संतानें उस महान सामूहिकग्रंथ के रचयिताओं, आम आदमी के ही नेस्तनाबूद होते देखने के भी न्याय होता कहती गुलछर्रे उठी रही हैं।

गुजरात, मुंबई और मुजफ्फरनगर के फौत या पीछे ति रहे हद्दि-मुसलमान और दिल्ली सहति कई इलाकों के सखि भी तो संविधान की शास्त्रीय शब्दावली में उसके निर्माता हम भारत के लोग हैं। कानूनी व्यवस्था और न्याय-पद्धति उनकी देहों के लिए दीमकों की भूमिका में न केवल उग आई है, बल्कि उनकी दंशवृत्ति और वंशवृद्धि की लगातार संभावना बनी हुई है।

फेसबुकपेज के लाइक करने के लिए क्लिक करें- <https://www.facebook.com/Jansatta>

ट्विटर पेज पर फॉलो करने के लिए क्लिक करें- <https://twitter.com/Jansatta>